HindiTech
A Blind Double Peer Reviewed Bilingual Web-Research Journal

प्राकृत साहित्य में वास्तुविद्या-निरूपण

वृषभ प्रसाद जैन

भाषाविज्ञान के प्रोफेसर एवं व्याकरणाचार्य

तीर्थंकर भगवान् के सर्वांग से निकली हुई दिव्यध्वनि को गणधर देव ने जिनवाणी रूप में बारह अंगों और चौदह पूर्वों में निबद्ध किया और इस प्रकार वह जिनवाणी हमें आज तक प्राप्त हो रही है। इस बारह अंग वाली जिनवाणी का बारहवाँ अंग दृष्टिवाद कहलाता है। इसके पाँच अधिकार हैं- परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका, इनमें से जल-गता, स्थल-गता, माया-गता, रूप-गता और आकाश-गता के भेद से चूलिका पाँच प्रकार की है, इसमें स्थल-गता चूलिका २०९८९२०० पदों द्वारा पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारण-भूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण आदि का व वास्तु-विद्या एवं भूमि-सम्बन्धी दूसरे शुभाशुभ कारणों का वर्णन करती है, यथा- थलगयाणाम तेत्तिएहि चेव पदे हि २०९८९२०० भूमि-गमण-कारण-मंत-तंत तवच्छरणाणि वत्थु-विज्जं भूमि-संबंध-मण्णं पि सुहासुहकारणं वण्णेदि। -धवला पुस्तक 1, पृष्ठ 113

“वस्तुनः वास-स्थान-विद्या इति वास्तु-विद्या” अर्थात् वस्तु के निवास-स्थान की विद्या का नाम वास्तु-विद्या है। जैन परंपरा में और प्राकृत की परंपरा में भी आत्मा को ही वस्तु माना गया है, यथा- वत्थुनाम अप्पाणं, इस प्रकार आत्मा के निवास-स्थान से संबंधित विद्या का नाम वास्तु-विद्या हुआ। कुल-मिलाकर आत्मा शरीर में रहती है या शरीर आत्मा का वास-स्थान है, इस प्रकार शरीर की संरचना की विद्या का नाम वास्तु हुआ, पर वास्तु-विषयक ग्रंथों में मनुष्य के निवास-स्थान की संरचना की बात वास्तु-विद्या के नाम से की गई है। संस्कृत-हिंदी कोश में ‘घर बनाने की जगह’ तथा ‘घर’ दोनों अर्थों में ‘वास्तु’ शब्द का प्रयोग मिलता है और वह ‘वास्तु’ शब्द को वस् धातु से तुण् प्रत्यय के लगाये जाने पर निष्पन्न मानता है तथा इसे लिंग की

दृष्टि से नपुंसक-लिंगी कहा गया है। नपुंसक लिंग में होने से एक संकेत और-मिलता है कि वास्तु उपादान की तरह प्रभावी कारक नहीं होता, प्रभावी कारक तो मूल रूप में आत्मा ही है, लेकिन वास्तु को सहकारी कारण भी न मानना अ-हित-कारी है, आचार्य वीरसेन स्वामी ने वास्तु-विद्या की परिभाषा देते हुए लिखा है कि वास्तु-विद्या उस स्थान (जहाँ पर भवन का निर्माण किया जाना है) तथा वास्तु-निर्माण-विधि आदि से संबंधित विधियों के शुभा-शुभ के कारणों का वर्णन करती है, शुभाशुभ का ध्यान तथा भूमि-शोधन किये बिना ही भवन का निर्माण जीवन में अनर्थ-कारी सिद्ध हो सकता है। यथा– वत्थुविज्जं भूमिसंबंधिमण्णं पि सुहासुहं कारणं वण्णेदि। -धवला,1/1/131।

उत्तराध्ययन में एक जगह वास्तु की व्याख्या करते हुए लिखा गया है– "वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु' अर्थात् जिसमें वस्तुएँ निवास करती हैं, वह वास्तु है; जिसका भाव यह है कि आत्माएँ जहाँ निवास करती हैं, उसकी संरचना का नाम वास्तु है, चूँकि आत्माएँ शरीर में निवास करती हैं, इसलिए शरीर की संरचना संघटना का नाम वास्तु है और चूँकि शरीर-धारी जिन घरों में निवास करते हैं, उन घरों की विद्या का नाम वास्तु-विद्या है। प्रारंभ में आचार्यों ने वास्तु के दो भेद बताए। 'वास्त्वपि सेतुकेतुभेदात् द्विधा- भूमिगृहं सेतु, प्रासादगृहादिकं केतु', भाव यह है कि सेतु-केतु के भेद से वास्तु दो प्रकार का होता है, जिसमें भूमिगृह 'सेतु' और प्रासादगृह 'केतु' कहलाता है। इससे अभिप्राय यह है कि भूमि के भीतर या भूमि के ऊपर एक मंजिला भवन सेतु-घर है, और उससे अधिक मंजिल वाला आम-आदमियों से भिन्न राजादिकों के रहने का निवास प्रासाद-गृह है, चूँकि अब सब कई मंजिला भवनों में रहने लग गए हैं, इसलिए अब सब राजा हो गए हैं, और विरले ईमानदार राजाओं के पास एक मंजिला भवन भी नहीं हैं, इसलिए राजा अब सेतु-गृही हो गए हैं, और ठग प्रासाद-गृही सब-कुछ उलटा-पुलटा हो गया है। हमारे आचार्य इन दो भेदों से भी संतुष्ट नहीं होते और वे एक गाथा कहते हैं। यह गाथा श्वेताम्वरों के आचारांग में भी उद्धृत है और हमारी 'वत्थुविज्जा' में भी दी गई है-

"तिविहं च भवे वत्थुं, खायं तह उच्चियं च उभयं च"।

भूमिघरं पासाओ, संबद्धघरं भवे उभयं।।

अर्थात् वास्तु तीन प्रकार का होता है-

1. **खात वास्तुः**- इन आचार्य की मान्यता के अनुसार भूमि के अंदर जमीन खोदकर बनाया गया निवास-स्थान खातघर है।
2. **उच्छ्रितः**- भूमि के ऊपर एक मंजिला बनाया गया निवास-स्थान उच्छ्रित है।
3. **खातोच्छ्रितः**- भूमि के अंदर कम से कम एक या एकाधिक मंजिल तथा भूमि के ऊपर कम से कम एक या एकाधिक मंजिल खातोच्छ्रित है।

यद्यपि वास्तु-विद्या के स्वतंत्र ग्रंथ प्राकृत में कम हैं, पर इसका मतलब यह नहीं लिया जाना चाहिए कि प्राकृत के रचनाकारों ने वास्तु-विद्या की अनदेखी की।

वास्तु-विद्या एवं स्थापत्य की शिल्प-कला की दृष्टि से दिगंबर परंपरा के प्राकृत के तिलोयपण्णत्ति, नेमिचन्द्र सिद्धांत-चक्रवर्ती के तिलोयसार, आचार्य वीरसेन-स्वामी की धवला टीका तथा आचार्य पद्मनंन्दि की जम्बुद्वीवपण्णत्ति आदि को विशिष्ट संदर्भ-ग्रंथ कोटि की रचना माना गया है. प्रो. राजाराम जैन इन ग्रंथों के मूलाधार के रूप में 'लोगविभाग' नामक ग्रंथ को मानते हैं, उनके मतानुसार- जिसकी रचना सन् 302 में पल्लववंशी काँची-नरेश सिंह वर्मा के राज्यकाल में मुनि सर्वनन्दी ने पाटलिक ग्राम में की थी। दुर्भाग्य से वह मूल ग्रंथ तो लुप्त हो गया, किंतु 11वीं सदी के मुनि सिंहसूरि-कृत उसका संस्कृत रूपांतर 'लोकविभाग' के नाम से उपलब्ध होता है, उक्त ग्रंथों में वास्तु-विद्या के सिद्धांतों पर आधारित जिन-भवन, गुफा-गृह, मान-स्तम्भ तथा मेरु आदि की ऊँचाई, गहराई, लंबाई एवं चौड़ाई, आवासीय भवन-निर्माण, उनके प्रवेश-द्वार, राज-प्रासाद, उनका सिंह-द्वार, हाट-बाजार, भवन-परिक्रमा, पथ-निर्माण, जलाशय तथा शालाओं में गन्धर्व-शाला, नृत्य-शाला, हस्ति-शाला, अश्व-शाला, नट-शाला, अतिथि-शाला, मद्य-शाला तथा उद्यान-गृह आदि के निर्माण के लिए शुभाशुभ लक्षणों का वर्णन करके उसके सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य वीरसेन स्वामी वास्तु-विद्या की दृष्टि से जिन-गृह अर्थात् मंदिर आदि भवन की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर चहारदीवारी/परकोटे के बनाये जाने को तथा मुख्य द्वार पर तोरण एवं वंदन-वार की सज्जा को

शुभ-कारक मानते हैं, इसीलिए वे लिखते हैं- "जिणगिहादीणं रक्खणट्ठप्पासेसु ठविदं ओलित्तीओ पागार णाम।" अर्थात् उसे 'प्राकार' अथवा 'परकोटा' कहते हैं। यथा-"वंदणमालवंदणट्ठं परदो ट्ठविद-रुक्खविसेसो तोरणं णाम।"-धवला 5/1, पृ. 40 अर्थात् वन्दन-वार बाँधने के लिए मुख्य दरवाजे के दोनों ओर जो वृक्ष लगाए जाते हैं, उन्हें 'तोरण' कहते हैं।

हमारे ठाणांग आदि ग्रंथों में तीन प्रकार के वास्तु की चर्चा की गई यथा- तिविहं वत्थु, हेअं, उपेक्खणीयं, गाह्यं अ। इस प्रकार हमारे यहाँ आचार्यों ने तीन प्रकार की वास्तु की बात की– हेय वास्तु, उपेक्षणीय वास्तु एवं ग्राह्य वास्तु। एक उदाहरण से उपर्युक्त तीनों भेदों को स्पष्ट किया जा सकता है– जैसे ससंघ आचार्य परमेष्ठी के विहार में उनके साथ रहकर मैं मध्यप्रदेश के नेमावर गाँव में पहुँचा। मार्ग में आचार्य श्री को साँझ से पहले सामायिक के लिए उपयुक्त स्थान का निर्धारण करना था। मैंने ध्यान से देखा कि वे एक पगडंडी पर आगे बढ़े और दो-तीन कदम चलकर उन्हें लगा कि इससे आगे का स्थान कंटका-कीर्ण है, चींटी आदि जीव जन्तुओं से भरा हुआ है, आगे बढ़ने पर न तो अहिंसा-महाव्रत का पालन हो सकता है और न ऐसी संभावना है कि जो सामने दिख रही दूर शिला है, वह चींटियों आदि से रहित होगी, वे तुरंन्त पगडंडी बदल देते हैं, क्योंकि सामने की शिला उनकी साधना के लिए 'हेय वास्तु' है, फिर दूसरी पगडंडी पर बीस-पच्चीस कदम चलते हैं और वहाँ चारों तरफ बड़े -बड़े वृक्ष हैं, तेज-हवा से पत्तों की घण-घणाहट इतनी अधिक है कि उन्हें लगता है कि यहाँ भी समय रूप आत्मा का ध्यान नहीं हो सकता, आत्म-आराधना नहीं हो सकती, सामायिक नहीं बन सकती, वे फिर तीसरी पगडंडी पकड़ लेते हैं, फिर लगभग सौ कदम पर जाकर एक शिला देखते हैं और उन्हें लगता है कि यहाँ सामायिक हो सकती है, पीछी से मार्जन करते हैं, चारों तरफ के लोगों से एक-दो मिनट बातचीत करते हैं और-फिर कहते हैं– अच्छा, अब मैं सामायिक कर लूँ। दूसरी पगडंडी से मिलने वाला स्थान उपेक्षणीय वास्तु का उदाहरण था और तीसरी पगडंडी से पहुँचने वाली शिला ग्राह्य-वास्तु का उदाहरण। मुझे तो लगता है कि शरीर की संरचना के बारे में जितने सिद्धांत कहे गए हैं, वे सारे सिद्धांत वास्तु-विद्या के लिए जरूरी है, प्राकृत-वाङ्मय शरीर-संरचना-विषयक विचारों से भरा पड़ा है।

वास्तु के प्रसंग में घर और कक्षों की संख्या की चर्चा भी अत्यावश्यक है। गृह की परिभाषा देते हुए उल्लेख मिलता है कि:- "ओवरय नाम शाला, जेणेग दुसाल भण्णए गेहं"अर्थात्: ओरड़े का नाम शाला (कमरा) है। जिसमें एक-दो शालाएँ (कमरे) हों, उसे घर कहते हैं।

गृहभेदों के प्रकार:

ओवरय-अलिंद-गई, गुजारि-भित्तीण-पट्ट-थंभाणं।

जालिय-मंडवालय, भेएण गिहा उवज्जंति।

अर्थ: शाला (कमरा), अलिंद गई (गृहद्वार के आगे की दालान), गजारी (शाला के पिछले भाग में तथा दायीं और बायीं ओर जो अलिंद (दालान) होते हैं, उन्हें गुजारी कहते हैं,) दीवाल (भीत), पट्टे, स्तम्भ, जालिय (झरोखे) और मण्डप के भेद से घर अनेक प्रकार के होते हैं।

गृहों की संख्या:

चउदस गुरु-पत्थारे, लहु-गुरु-भेएहिं सालमाईणि।

जायंति सव्व-गेहा, सोल-सहस्स-तिसय-चुलसीआ।।

अर्थ–जिस प्रकार लघु और गुरु मात्राओं के भेदों से चौदह गुरु अक्षरों का प्रस्तार बनता है, उसी प्रकार शाला (कमरा) और अलिंद (द्वार सहित दालान) आदि के भेद से १६३२४ प्रकार के घर बनते हैं।

राजेन्द्र अभिधान कोश में प्राकृत संदर्भों के आधार पर भवनों के प्रकारों, आकारों और उनके गुण-दोषों तथा उनमें प्रयोग की जाने वाली कला का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है-

कुटिला भूमिजाश्चैव, वैनीका द्वन्द्वजास्तथा।

लतिनो नागराश्चैव, प्रासादाः क्षितिमण्डनाः।।1।।

सूक्ताः पदविभागेन, कम्ममार्गेण सुन्दराः।

फलावाप्तिकरा लोके, भङ्गभेदयुता विभोः । ।2 । ।

अण्डकैस्तु विविक्तास्ते, निर्गमैश्चाररूपकैः ।

चित्रपत्रैर्विचित्रैश्च, विविधाकाररूपकैः । ।3 । ।

इत्यादि वस्तुनो गृहभूमेर्विद्या वास्तुविद्या वास्तुशास्त्रप्रसिद्धे गुणदोषविज्ञानरूपे कलाभेदे ।

-राजेन्द्र अभिधान कोश, खण्ड 6, पृ. 877

वास्तुसार भवन की भूमि-परीक्षा के बारे में कुछ प्रक्रियाओं का प्रतिपादन करता है । वास्तुसार प्रकरण 1, गाथा 3 में उल्लेख है कि- जिस भूमि पर भवन निर्माण करना है, उस भूमि के मध्य में 24 अंगुल-प्रमाण लंबा तथा इतना ही चैड़ा एवं गहरा गड्ढा खोदें तथा उससे निकली हुई मिट्टी पुनः उसी गड्ढे में भरें । यदि पूरा गड्ढा भरने के उपरांत भी मिट्टी शेष रह जाए, तब उस भूमि को स्वामी के लिए उत्तम-फल-प्रदात्री जानना चाहिए । ऐसी भूमि पर वास्तु-निर्माण करने से कर्ता को धन-धान्य एवं सुख-समृद्धि की प्राप्ति होती है; ऐसे ही यदि वह मिट्टी सम रहे अर्थात् न बढ़े न घटे, तब भवन-निर्माण-कर्ता को मध्यम-फल-प्रदात्री जानना चाहिए अर्थात् भवन-स्वामी की परिस्थिति में कोई बदलाव नहीं आएगा । यदि वह उसी गड्ढे पर कम पड़ जाए, तब भूमि का फल अधम समझना चाहिए । यथा–

चउवीसंगुलभूमी खणेवि पूरिज्ज पुण वि सा गत्ता ।

तेणेव मट्टियाए हीणाहियसमफला नेया । ।

-वास्तुसार प्रकरण 1, गाथा 3॥

श्री ठक्कुर फेरु ने अपने वास्तुसार में उपर्युक्त 24 अंगुल लंबे, चौड़े एवं गहरे गड्ढे में लबालब जल भर दें तथा तुरंत 100 कदम जाकर लौटकर देखें । यदि गड्ढे में जल तीन अंगुल कम हो जाए, तो वह भूमि स्वामी के लिए अधम-फल-दायी होगी अर्थात् परिवार को दुःख-दायक होगी । यदि दो अंगुल पानी सूख जाए, तो वह

भूमि स्वामी के लिए मध्यम-फल-दायी होगी। यदि एक अंगुल पानी सूखे, तब वह भूमि स्वामी के लिए उत्तम-फल-दायी होगी अर्थात् सुख-समाधान-कारक होगी। यथा-

अह सा भरिय जलेण चरणसयं गच्छमाण जा सुसइ।

ति-दु-इग अंगुल भूमी अहम मज्झम उत्तमा जाण।। -वास्तुसार प्र. 1, गाथा 4

निर्माण किए जाने वाली भूमि की परीक्षा के वास्तुसार में कुछ-और उपाय भी बताये गए हैं, जिनमें से कुछ निम्न हैं। यथा–

(1) निर्माण योग्य भूमि में संध्या के समय एक हाथ गहरा, लम्बा, चौड़ा गड्ढा करें तथा उसमें जल भर देवें। प्रातः काल उसमें जल शेष रहे, तो शुभ; निर्जल गड्ढा दिखाई देवे, तो मध्यम; एवं निर्जल व फटा हुआ गड्ढा दिखे, तो अशुभ जानें।

(2) संपूर्ण भूमि में यव, तिल अथवा सरसों का वपन करें, यदि उक्त बीज 3 रात्रि में अंकुरित होकर ऊपर आवें, तो श्रेष्ठ भूमि; 5 रात्रि में अंकुरित होवें, तो मध्यम भूमि; तथा 7 रात्रि में अंकुरित होवें, तो अधम भूमि समझें। जिस भूमि पर कोई बीज अंकुरित नहीं होवें, वह भूमि कदापि ग्रहण नहीं करें।

(3) भूमि की बारीक मिट्टी लेकर आकाश में फेकें- यदि मिट्टी के कण तत्समय ऊपर की ओर जावें, तो श्रेष्ठ, बीच में स्थिर रहें, तो मध्यम एवं तत्काल नीचे आवें, तो अधम बुद्धि-दायक भूमि कही गई है।

(4) एक हाथ गहरी जमीन खोदकर मिट्टी को आढ़क में भर देवें एवं उसका तौल करें। यदि वह मिट्टी चौंसठ पल हो, तो भूमि शुभ है (अन्न मापने का काष्ठ का एक पात्र, जिसमें अनुमानतः चार सेर के लगभग अन्न आता है, उसको आढ़क कहते हैं। चालीस मासे का एक पल होता है।)

वास्तुसार में ही आगे चलकर भूमि के बारे में और उल्लेख मिलता है, जो निम्न प्रकार है-

सियविप्पि अरुणरवत्तिणि पीयवइसी अ कसिणसुछी अ।

मट्टियवण्णपमाणा भूमि निय निय वण्णसुक्खयरी।।

-वास्तुसार, प्र.1, गाथा 5

सफेद रंग की भूमि बाह्मणों के लिए लाभदायक है। लाल रंग की भूमि क्षत्रियों को उत्तम फल प्रदान करती है। पीले रंग की भूमि वैश्य (वणिक्) जनों के लिए फलदायी है तथा काले रंग की भूमि शूद्रों के लिए फलदायी होती है। अतएव चारों वर्णों के लोगों को अपने अनुकूल जमीन ही क्रय करना उचित है।

वम्मइणी वाहिकरी ऊसर भूमीह हवइ रोरकरी।

अइफुट्टा मिच्चुकरी दुक्खकरी तह य ससल्ला।।

-वास्तुसार प्र. 1, गा. 10

दीमक वाली भूमि पर भवन निर्माण करने से व्याधियाँ आती हैं। खारी भूमि निर्धनता उत्पन्न करती है। फटी हुई जमीन पर निर्माण की गई वास्तु मृत्यु-कारक है। जमीन में हड्डी आदि शल्य दुःख उत्पन्न करती है। यदि भूमि में अस्थि आदि शल्य हो, तो उसका शोधन करना आवश्यक है, क्योंकि ये अति-दुःख-दायक होती है। मनुष्य एवं तिर्यंचों की हड्डियाँ, चर्म, बाल, राख, कोयला, अतिक्षार एवं लोहे को शल्य कहा गया है। आवास या जिनालय की भूमि में इस तरह के शल्यों का सद्भाव गृह-स्वामी एवं मन्दिर संरक्षित समाज को नाना तरह की क्षति, संक्लेश, व्याधि एवं निरन्तर मरण-तुल्य कष्ट-दायक कहा है, अतः भूमि-परीक्षण के उपरान्त शल्य-शोधन अवश्य करना चाहिए।

आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती अपने त्रिलोकसार ग्रन्थ में भवन के माप के बारे में कहते हैं और माप को 'मान' शब्द से ग्रहण करते हैं एवं उल्लेख करते हैं कि मान दो प्रकार का होता है- लौकिक मान एवं अलौकिक मान। लौकिक मान छह प्रकार का है मान, उनमान, अभिमान, गडिमान, प्रमिमान तत्प्रतिमान। प्रस्थ तुला चुल्लू एकादी गुन्जा फल, घोड़े आदि का मूल्य लौकिक मान है। यथा-

माणं दुविहं लोगिगं, लोगुत्तरमेत्थ लोगिगं छद्धा।

माणुम्माणोमाणं, गणि-पडितप्पडि-पमाणमिदि।।६।।

पत्थु-तुल-चुलुयएगप्पहुदी गुंजा-तुरंगमोल्लादिकं। ।10।।

मान- जिससे अनाज आदि का माप किया जाता है, ऐसे प्रस्थ आदि मान हैं।

उन्मान- तराजू आदि को उन्मान कहते हैं।

अवमान- चुल्लू आदि से जो जल का माप होता है, वह अवमान है।

गणिमान- एक-दो-तीन आदि को गणिमान कहते हैं।

प्रतिमान- जिससे स्वर्णादि तौला जाता है, ऐसे गंजा आदि प्रतिमान हैं।

तत्प्रतिमान- घोड़े के अवयव आदि देखकर मूल्य करने को तत्प्रतिमान कहते हैं।

इनमें से संख्या (गणित) सूचक जो गणिमान है, वही मान देवमन्दिर एवं प्रासाद आदि के माप का साधन है।

श्री यतिवृषभाचार्य ने तिलोयपण्णत्ती के प्रथम भाग में (गाथा 102 से 106 तक) पाँच गाथाओं द्वारा अंगुल का प्रमाण प्रदर्शित किया है। इसके बाद अंगुल के तीन भेद और उनके लक्षण कहे हैं और उसके बाद इन तीन प्रकार के अंगुलों से कौन-कौन से पदार्थ मापे जाते हैं, इसका विवेचन किया है। उत्सेधांगुल द्वारा माप करने योग्य पदार्थ के बारे में उल्लेख है कि-

उस्सेह-अगुलेणं, सुराण-णर-तिरिय-णारयाणं च।

उस्सेहस्स-पमाणं, चउदेव-णिगेद-णयराणं। ।110।।

अर्थ: उत्सेधांगुल से देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण और चारों प्रकार के देवों के निवास-स्थान एवं नगर आदि का प्रमाण जाना जाता है। आगे प्रमाणांगुल से मापने योग्य पदार्थ के बारे में वहाँ वर्णन निम्न प्रकार है-

दीवोदहि-सेलाणं, बेदीणं कुण्ड-जगदीणं।

वस्साणं च पमाणं, होदि पमाणंगुलेणेव। ।111।।

अर्थ: द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुण्ड, सरोवर, जगती और भरतादि क्षेत्रों का प्रमाण (माप) प्रमाणांगुल से ही होता है। उत्सेधांगुल से पाँच सौ गुणा माप एक प्रमाणांगुल का कहा है। इसी क्रम में आत्मांगुल से मापने योग्य पदार्थ के विषय में कहा गया है-

भिंगार-कलस-दप्पण-वेणु-पडह-जुगाण सयण-सगदाणं।

हल-मुसल-सत्ति-तोमर-सिंहासण-वाण-णालि-अक्खाणं। ।112।।

चामर-दुंदुहि-पीढच्छत्ताणं णर-णिवास-णयराणं।

उज्जाण-पहुयाणं, संखा आदंगुलेणेव। ।113।।

अर्थः झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट (गाड़ी) हल, शक्ति, तोमर, सिंहासन,वाण नालि, अक्ष, चामर, दुन्दुभि, पीठ, छत्र, मनुष्यों के निवास-स्थान, नगर और उद्यान आदिकों की नाप (माप) आत्मांगुल से ही समझनी चाहिए।

आचार्य-प्रणीत इन गाथा-सूत्रों से यह प्रमाणित होता कि देवमन्दिर, प्रासाद, प्राकार, बाग-बगीचे, आसन, शय्या, वस्त्र, शस्त्र एवं वाद्य आदि जीवनोपयोगी प्रत्येक पदार्थ माप के अनुसार ही प्रयोग करना सुख-शान्ति का साधन है और माप की अवेहलना करना मानों भयानक दुःख एवं संकटों को आमंत्रित करना है।

माप का आधार:

पासाय-रायमन्दिर-तडाग-पायार-वत्थ-भूमी य।

इय कंबीहिं गणिज्जइ, गिह-सामि करेहिं गिहवत्थू।।

अर्थात्: देव-मन्दिर, राज-महल, तालाब, प्राकार, वस्त्र और इनकी भूमि आदि का कम्बिया (गज) से करें, तथा सामान्य लोग अपने-अपने मकान का माप अपने-अपने हाथ से करें।

वास्तुसार प्रकरण 1 की निम्नलिखित गाथाएँ भवन के सम्बंध में आकृतियों को लेकर विशेष रूप से दृष्टव्य हैं-

कूणं कूणस्स समं आलय आलं च कीलए कीलं।

थंभे थंभं कुज्जा अह वेहं वज्जि कायव्वा ॥127॥

आलय सिरम्मि कीला थंभो बारुबरि वारु थंभुवरे।

बार द्विबार समखण विसमा थंभा महाअसुहा। ।128।।

थंभ हीणं न कायव्वं पासायं मठ-मंदिरम्।

कूणकक्खंतरेऽवस्सं देयं थंमं पयत्तओ। ।129।।

गिहमज्झि अंगणे वा तिकोणयं पंचकोणयं जत्थ।

तत्थ वसंतस्स पुणो न हवइ सुहरिद्धि कईयावि। ।132।।

कोने के बराबर कोना, आले के बराबर आला, खूंटे के बराबर खूंटा तथा खम्भे के बराबर खम्भा, –ये सब वेध को छोड़कर रखना चाहिए। आले के ऊपर खूँटा या कीला, द्वार के ऊपर स्तम्भ, स्तम्भ के ऊपर द्वार, द्वार के ऊपर दो द्वार, समान खण्ड, और विषम स्तम्भ ये-सब बड़े अशुभ-फल-दायक होते हैं। देवालय, राजभवन, राजप्रासाद बिना स्तम्भ के नहीं बनाना चाहिए; किंतु इनमें अन्तरपट तथा मंची अवश्य बनाना चाहिए। पीढ़े सम संख्या में रखना में रखना चाहिए। कोने के बगल में अवश्य ही स्तम्भ रखना चाहिए। खूंटी, आला, खिड़की इनमें से कोई खण्ड के मध्य भाग में आ जाए, इस प्रकार नहीं बनाना चाहिए। जिस घर के मध्य भाग में या आंगन में त्रिकोण या पंचकोण भूमि हो, उस घर में रहने वाले को कभी भी सुख समृद्धि की प्राप्ति नहीं होती। यथा-

वलयाकारं कूणेहिं संकुलं अहव एग दु ति कूणं।

दाहिण वामइ दीहं न वासियव्वेरिसं गेहं।।

-वास्तुसार प्र. 1, गाथा. 135

गोल कोने वाला या एक-दो-तीन कोने वाला या दाहिनी और बायीं ओर लम्बा घर रहने योग्य नहीं है।

जिन चित्रों से मंगल भावनाओं का निर्माण हो, नेत्रों एवं मन के लिए आनन्द-कारी हों तथा शुभ एवं शांति-दायक विचारों का आगमन हो, तभी वैसी सजावट की सार्थकता है। क्रोध, उद्वेग, भय, ग्लानि, आश्चर्य उत्पन्न करने वाले चित्र या मूर्तियाँ भी घर में नहीं लगानी चाहिए। यथा-

जोइणिनट्टारंभं भारह रामायणं च निवजुद्धं।

रिसिचरिअ देवचरिअ इअ चित्ति गेहि नहु जुत्तं।।

फलियतरु कुसुमवल्ली सरस्सई नवनिहाणजुअलच्छी।

कलसं वद्धावणयं सुमिणावलियाइ सुहचित्तं।। -वास्तुसार प्र. 1, गा. 138-139॥

अर्थात् योगिनियों के नृत्य, नट, महाभारत एवं रामायण आदि ग्रंथों के युद्धों के चित्र घर में नहीं लगाना चाहिए। ऋषि-चरित्र एवं देव-चरित्र के चित्र भी महा-वैराग्य-वान होने से घर में लगाना अनुपयुक्त है। फल-दार वृक्ष, पुष्प-लता, सरस्वती देवी, नवनिधानयुक्त लक्ष्मीदेवी, कलश, स्वस्तिक इत्यादि मंगलमय चिह्नों तथा सु-स्वप्न-पंक्ति का चित्रण अत्यंत-शुभ तस्वीर या प्रतिकृतियाँ आदि लगायी जा सकती हैं, किंतु इन्हें पश्चिम या दक्षिण की दीवाल पर, पूर्व या उत्तर की ओर मुख किए हुए लगाना चाहिए। लगाए गए चित्र यदि काँच के फ्रेम में हों, तो यह ध्यान रखें कि काँच फूटा न हो। चित्रों के ऊपर धूल न जमी हो। वास्तु में प्रेत, राक्षस, कालीदेवी, असुर, व्याघ्र, सिंह, कौआ, उल्लू, रीछ, शूकर, लोमड़ी, लकड़बग्घा, गिद्ध आदि के चित्र कदापि न लगाएँ। इनसे मानसिक चंचलता एवं भयोत्पादक भाव असुर, व्याघ्र, सिंह, कौआ, उल्लू,

रीछ, शूकर, लोमड़ी, लकड़बग्घा, गिद्ध आदि के चित्र कदापि न लगाएँ। इनसे मानसिक चंचलता एवं भयोत्पादक भाव उत्पन्न होते हैं।

पासाय कूव वावी मसाण रायमंदिराणं च।

पाहण इट्ट कट्ठ सरिसवमत्तवि वज्जिज्जा।।

-वास्तुसार प्र. 1, गा. 152

अपना गृह बनाने के लिए सदैव ध्यान रखें कि देव-मन्दिर, कुंआ, श्मशान, मठ, राज-प्रासाद आदि के पत्थर, ईंट, लकड़ी आदि का किंचित मात्र भी अपनी वास्तु के निर्माण के लिए उपयोग में नही लाना चाहिए।

आचार्यों ने कुछ प्रकार की लकड़ी वास्तु में न लगाने का उल्लेख भी वास्तुसार में किया है। यथा-

हल घाणय सगडमई अरहट्ठ जंताणि कंटई तह य।

पंचुंबुरि खीरतरु एयाण य कट्ठ वज्जिज्जा।।

बिज्जउरि केलि दाडिम जंभीरी दोहलिछ अंबलिया।

बब्बूल बोरमाई कणयमया तह वि नो कुज्जा।।

एयाणं जइ वि जडा पाडिवसा उपविस्सइ अहवा।

छाया जम्मि गिहे कुलनासो हवइ तत्थेव।।

सुसुक्क भग्ग दड्ढा मसाण खग निलय खीर चिरदीहा।

निम्ब बहेडय रुक्खा न हु कट्टिज्जंति गिहहेऊ।।

-वास्तुसार प्र. 1, गा.146 से 149

अर्थात् निम्नलिखित प्रकार की लकड़ी को वास्तु-निर्माण कार्य में प्रयोग करना अनुपयुक्त है-

1. हल, 2. घानी कोल्हू, 3. गाड़ी 4. रेहट, 5. काँटे वाले वृक्ष, 6. केला, 7. अनार 8. नीबू, 9. आक 10. इमली, 11. बबूल, 12. नीम, 13. बहेड़ा, 14. बीजपमर (बीजोर), 15.पीले फूलवाले वृक्ष 16. अपने-आप सूखा हुआ वृक्ष, 17. टूटा हुआ वृक्ष, 18. जला हुआ वृक्ष, 19. श्मशान के समीप का वृक्ष, 20. पक्षियों के घोंसले वाला वृक्ष, 21. अतिलम्बा जैसे खजूर आदि, 22. जिनके काटने से दूध निकले, 23. उदुंबर (बड़, पीपल, गूलर, पलाश, कठुम्बर)। यहीं यह भी उल्लेखनीय है कि बीजोरा, केला, अनार, नीबू, आक, इमली, बबूल, बेर, पीले फूल के वृक्ष न तो घर में बोना चाहिए, न इनकी लकड़ी काम में लाना चाहिए। यदि इन वृक्षों की जड़ के समीप या घर में प्रविष्ट हो या जिस घर पर इनकी छाया गिरती हो, तो उस कुल का क्षय होता जाता है।

हमने कुछ उद्धरणों के आधार पर उपर्युक्त इस आलेख में प्राकृत संदर्भों से वास्तु-विद्या से संबंधित कुछ बिन्दुओं पर चर्चा की। अभी तक हमने प्राकृत के वास्तु-विद्या के समस्त संदर्भों को कहीं एक स्थान पर इकट्ठा नहीं किया है, ये जब एकत्रित हो जाएँगे, तब वास्तु-विद्या से जुड़े और-पक्ष उजागर होंगे। हमें इस ओर यत्न करना चाहिए और-फिर उसके आधार पर प्रयोग-विद्या को और-विकसित किया जाना चाहिए। इसी क्रम में दोष-निवारण व मुहूर्त के प्रसंग और-विचारणीय हैं। प्राकृत मंत्रों की साधना भी वास्तु-दोष निवारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

Citation: जैन, वृषभ प्रसाद (2019). प्राकृत साहित्य में वास्तुविद्या-निरूपण, HindiTech: A Blind Double Peer Reviewed Bilingual Web-Research Journal, 10 (1), 1-14. URL: https://hinditech.in/prakrut-sahitya-men-vastuvidya-nirupan/